ब्रज भाषा के कृष्ण भक्ति काव्य में अभिव्यंजना शिल्प

समर्पण

स्वर्गीय पिता जी की आंसूभरी, धूमिल बाल-स्मृतियों को
तथा मां के असीम साहस, धैर्य, त्याग और वात्सल्य को

भूमिका

डॉ. सावित्री सिन्हा

मानव-मन वस्तु जगत् के विभिन्न सूक्ष्म और स्थूल अंशों से सम्पर्क स्थापित कर उसे सत्य रूप में ग्रहण करता है। साधारण जीवन में इस सम्पर्क का रूप अधिकतर स्थूल धरातल पर होता है परन्तु कलाकार की सूक्ष्म इन्द्रियां वस्तु जगत् के स्थूल सत्य का अतिक्रमण करके असीम ब्रह्म, निस्सीम आकाश, अनन्त भूमण्डल और अतल सागर पर विजय प्राप्त करती है, उसकी सौन्दर्य कल्पना प्रकृति के अनन्त सौन्दर्य से होड़ लेने की क्षमता रखती है। वैयक्तिक दृष्टिकोण किसी व्यक्ति में रहस्यवादी की प्रेमविह्वलता बनता है, किसी में कलाकार की सौन्दर्योपासना तथा किसी अन्य में वैज्ञानिक की तर्कशीलता। बुद्धि और भावना के इस सूक्ष्म और अमूर्त स्तर पर व्यक्ति और वस्तु-जगत् पर एकात्म्य हो जाता है तथा आलम्बन के प्रति उसकी जिज्ञासाओं का प्रत्युत्तर इसी सूक्ष्म स्तर पर उसकी प्रतिमूर्तियों तथा उसके प्रति धारणाओं के रूप में प्राप्त होता है। इसी सत्यानुभूति की अभिव्यक्ति में कला, विज्ञान, दर्शन इत्यादि का आविर्भाव होता है। चित्रकार की कूंची, कवि की लेखनी, दार्शनिक का चिन्तन तथा वैज्ञानिक के प्रयोग इसी अभीष्ट की प्राप्ति के साधन हैं। दार्शनिक वस्तु-जगत् को साधन-रूप में ग्रहण करके उसके माध्यम से चिन्तन में लीन हो कर उसका अन्वेषण करता है। वैज्ञानिक वस्तु-जगत् पर विजय की कामना से अभियान करता है। कलाकार का अभीष्ट जगत् के पार देखना नहीं होता, वह तो सत्य की अभिव्यंजना वस्तु-जगत् के सम्पर्क में ही रह कर करना चाहता है। इस प्रकार दृष्टिकोण के वैभिन्न्य के कारण कलाकार, वैज्ञानिक, दार्शनिक तथा साधारण व्यक्ति के लिए सत्य का अर्थ पृथक्-पृथक् होता है।

कलाकार का दृष्टिकोण

अब प्रश्न यह है कि कलाकार का सत्य क्या होता है तथा वस्तु-जगत् के सम्पर्क में उसकी मानसिक-प्रक्रिया का क्या रूप होता है? कलाकार का उद्देश्य सिद्धांतों का प्रतिपादन करना नहीं होता, सिद्धांत-प्रतिपादन के लिए वह वस्तु-जगत् को माध्यम नहीं बनाता, प्रत्युत् उसके साथ अपने अस्तित्व का तादत्म्य कर लेता है। वह सत्य में ही संलग्न हो जाता है, अर्थात् उसका सम्पूर्ण व्यक्तित्व उस सत्य की अनुभूति से अभिभूत हो उठता है। अनुभूति की चरमता में उसका भौतिक अस्तित्व खो जाता है और तभी वह अपनी अनुभूतियों में साकार सत्य की प्रतिमूर्ति का निर्माण करता है। यह अनुभूति रूप-निदर्शनात्मक होती है। सृजन प्रक्रिया के आंतरिक तत्वों का निर्माण वस्तु के प्रति विशिष्ट दृष्टिकोणों पर आधृत रहता है और बाह्य स्तर पर उसका संबध अभिव्यंजना के विभिन्न तत्वों के साथ होता है।

काव्य के अभिव्यंजना-पक्ष के लिए हिन्दी में मुख्य रूप से तीन शब्द स्वीकार किये गये हैं - अभिव्यंजना, शिल्प और कला। प्रथम शब्द अंग्रेज़ी के एक्सप्रेशन, द्वितीय क्राफ्ट और तृतीय आर्ट का समानार्थी है। प्रस्तुत निबंध का शीर्षक है 'ब्रज भाषा के कृष्ण-भक्ति काव्य में अभिव्यंजना-शिल्प', अर्थात् काव्य में व्यक्तिकरण की कला। काव्य में अभिव्यंजना-पक्ष के महत्व-निर्धारण से पहले अभिव्यंजना शब्द से तात्पर्य क्या है, इसका विश्लेषण कर लेना उपयुक्त होगा।

अभिव्यंजना की परिभाषा

हिंदी में अभिव्यंजना शब्द का प्रयोग अंग्रेज़ी के शब्द 'एक्सप्रेशन' के पर्याय-रूप में होता है। संदर्भ के पार्थक्य को ध्यान में रखते हुए इस शब्द के विभिन्न अर्थों को निम्नोक्त प्रमुख वर्गों में विभाजित किया जा सकता है --

१. व्यंजना, प्रकाशन, बोधन, ज्ञापन, आविष्करण, ख्यापन, निरूपण

२. निष्पीड़न, निष्कर्षण

३. वदन, आस्य, आकृति

४. कथन, वचन, उक्ति, वाक्य, पद, शब्द

५. रीति, मार्ग, पद्धति, सरणी

प्रथम वर्ग के शब्दों में व्यक्तिकरण का माध्यम निर्दिष्ट नहीं है। अनुभूतियों और भावनाओं का व्यक्तिकरण मनुष्य की प्रकृत और अनिवार्य आवश्यकता है जिसकी पूर्ति वह अपने विशिष्ट ऎन्द्रीय अनुबोध के आधार पर विभिन्न कलाओं के रूप में करता है। अभिव्यक्ति का प्रत्यक्ष और प्रधान माध्यम वाणी है परन्तु चित्र-कला, वास्तु-कला, नृत्य-कला, संगीत-कला इत्यादि में प्रयुक्त अभिव्यंजना में तो वाणी का स्थान या तो है ही नहीं अथवा बहुत ही गौण है। प्रथम वर्ग के शब्दों का प्रयोग साधारण कार्य-व्यवहार, विभिन्न कलाओं तथा विज्ञान सभी क्षेत्रों में हो सकता है। कला-सम्बंधी अभिव्यंजना के प्रसंग में वर्ग के पांचवें शब्द 'आविष्कार' का प्रयोग अपने सहज स्वीकृत रूप में ग्रहण नहीं किया जा सकता। आविष्कार का अर्थ है खोज अथवा शोध। कलात्मक अभिव्यंजना के क्षेत्र में 'आविष्कार' को 'प्रसंग-गर्भित' रूप में ही स्वीकार किया जा सकता है। अत्यंत संक्षेप में कहा जा सकता है कि कलात्मक अभिव्यंजना मानव के मानस पर अंकित उन चित्रों का मूर्त रूप है जिनका आविष्कार वह व्यक्तिकरण के पहले ही कर चुका है चाहे उन चित्रों की आधार-भित्ति ज्ञान अथवा भाव हो या इच्छा। अभिव्यंजना के तत्वों का आविष्कार उसे सचेत और सयत्न हो कर करना पड़ता है या वास्तव में कला का अस्तित्व आत्म-आविष्करण की प्रक्रिया का ही परिणाम है। अत: आविष्कार शब्द को अभिव्यंजना के सहज मान्य रूप में चाहे न ग्रहण किया जा सके परन्तु कलात्मक प्रक्रिया में 'आविष्कार' का महत्वपूर्ण स्थान है यह निस्संदेह कहा जा सकता है।

प्रथम वर्ग के शेष अर्थ हैं ख्यापन तथा निरूपण। 'ख्यापन' में वाणी के प्रयोग का संस्पर्श है। ख्यापन का अर्थ है 'घोषणा' तथा 'प्रकटीकरण'। अतएव 'अभिव्यंजना' के पर्याय-रूप में इस शब्द को भी स्वीकार किया जा सकता है। 'निरूपण' का अर्थ केवल विवेचन मात्र नहीं है, 'आकृति', 'खोज', 'शोध' इसकी परिभाषा के अन्तर्गत आते हैं और अभिव्यंजना के विभिन्न तत्वों द्वारा व्यक्त काव्य अथवा कला का संपूर्ण रूप ही आकृति है।

द्वितीय वर्ग के शब्दों के साथ अभिव्यंजना के वाच्यार्थ 'व्यक्तिकरण' को सहज रूप में ग्रहण करना कठिन है किन्तु लक्ष्यार्थ द्वारा उसे स्वीकार किया जा सकता है। यह शब्द हैं 'निष्पीड़न' और 'निष्कर्षण'। प्रथम शब्द का अर्थ है 'दबा कर निकालना' अथवा 'निचोड़ना' तथा द्वितीय का अर्थ है 'खींच कर निकालना'। दोनों शब्दों में ही यत्न का प्राधान्य है। जीवन के स्थूलतम अंगों से ले कर सूक्ष्मतम उपकरणों तक में अभिव्यंजना की प्रक्रिया में यत्न और चेष्ठा का स्थान अवश्यम्भावी है। काव्य-प्रक्रिया के सम्बंध में भी यही बात बड़े ही उपयुक्त शब्दों में कही गयी है।

तृतीय वर्ग में जहाँ एक्सप्रेशन का अर्थ मुख अथवा बदन से लिया गया है वहां तात्पर्य मुख की आकृति से न हो कर मुख पर व्यक्त भावों से है जो मनुष्य के व्यक्तित्व का आभास देने में समर्थ होते हैं। चतुर्थ वर्ग में अभिव्यंजना शब्द का प्रयोग अभिव्यंजना के प्रधान रूप वाणी के विभिन्न अंगों के रूप में ही किया गया है। इनमें से मुख्य है वचन अथवा कथन, उक्ति, वाक्य, पद, शब्द। वचन और उक्ति तो अभिव्यंजना के सर्वप्रधान रूप हैं ही। वाक्य शब्द के तीन प्रकार के अर्थ हैं -

१. एक भाव अथवा विचार की सम्पूणभिव्यक्ति
२. तर्क
३. विधि, नियम, सूक्ति, सूत्र, वचन

वाक्य शब्द के तीनों ही अर्थ अभिव्यंजना के मुख्य तत्वों के अंतर्गत आते हैं।

'शब्द' शब्द का प्रयोग भी दो प्रमुख अर्थों में किया जाता है -

१. ध्वनि, श्रवणेन्द्रिय का बोध तत्व तथा आकाश की सम्पत्ति
२. अक्षरों का समूह

प्रथम वर्ग में एक विशिष्ठ मानवेन्द्रिय का बोध-तत्व होने के कारण 'ध्वनि' स्वत: ही मानव-हृदय की प्रतिक्रियाओं के व्यक्तिकरण का साधन है। द्वितीय अर्थ में शब्द काव्य-अभिव्यंजना का प्रधान तत्व है।

पंचम वर्ग के अर्थों के अनुसार एक्सप्रेशन शब्द रीति, पद्धति अथवा मार्ग के रूप में लिया गया है। अभिव्यंजना का यह अर्थ भी काव्य-सम्बंधी अभिव्यंजना में बहुत ही महत्वपूर्ण स्थान रखता है। एक विशिष्ठ पद्धति का निर्धारण करके ही अभिव्यंजना का रूप-निर्माण होता है। विज्ञान तथा शास्त्र सम्बंधी अभिव्यंजना यदि निगमन तथा आगमन पद्धतियों के आधार पर रूप ग्रहण करती है तो कलात्मक अनुभूति की अभिव्यक्ति विभिन्न शैलियों के आधार पर होती है। अतएव अभिव्यंजना और रीति को हम चाहे पर्यायवाची शब्दों के रूप में न ग्रहण करें परन्तु अन्योग्याश्रित सम्बंध का निषेध नहीं किया जा सकता।

इस प्रकार विभिन्न प्रसंगों में अभिव्यंजना शब्द के विभिन्न अर्थ हैं जिनमें संदर्भ-सम्बंधी पार्थक्य के विद्यमान रहते हुए भी एक मूलगत ऎक्य है। प्रत्येक प्रसंग में अभिव्यंजना का अर्थ किसी न किसी रूप में व्यक्तिकरण की प्रक्रिया से सम्बद्ध है। प्रकाशन, बोधन, ज्ञापन आदि से अगर अभिव्यंजना क्रिया के समग्र रूप का बोध होता है तो आविष्करण, निष्पीड़न, निष्कर्षण आदि उसकी प्रक्रिया के किसी अंश का अर्थ वहन करते हैं। कथन, उक्ति, वचन, शब्द इत्यादि शब्दों का अभिव्यंजना से सम्बंध तो स्वत: स्पष्ट है। मानवीय अनुभूतियों के व्यक्तिकरण का प्रमुख माध्म वाणी है परन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि इस क्षेत्र में अन्य इन्द्रियां सर्वथा निष्क्रिय हैं। वाणी यदि ध्वनि की वाहक है तो श्रवणेन्द्रिय ग्राहक। नेत्रों की भाव-व्यंजकता से कौन अपरिचित है? संगीत का स्वर, नृत्य की गति, वास्तुकल का शिल्प, चित्रकला की स्निग्ध रंगीनियाँ केवल वाणी के माध्यम से ही नहीं व्यक्त होतीं, परन्तु इसमें कोई संदेह नहीं अभिव्यंजना के क्रियात्मक तथा व्यवहारत्मक रूप में वाणी का उपयोग अपेक्षाकृत बहुत अधिक होता है। अत: अभिव्यंजना शब्द के समग्र रूप में अर्थ-संकोच अस्वाभाविक नहीं है। विविध ललित कलाओं तथा काव्य-कला में मुख्य अंतर यह है कि काव्य-रचना के माध्यम शब्द हैं जिनका प्रयोग केवल कला में ही न हो कर मनुष्य के सभी कार्य-कलापों में भावों और विचारों के आदान-प्रदान के साधन के रूप में किया जाता है। रीति अभिव्यंजना की सरणी है जिसपर कलाकार की कल्पना सयत्न मार्ग बनाती है। इस प्रकार अभिव्यंजना शब्द के प्रमुख अर्थों में मूल अंतर अर्थ-विस्तार अथवा अर्थ-संकोच का ही है। इस शब्द के विकास में इन दोनों का अनुक्रम क्या है, यह निश्चय करना भाषा-विज्ञान का कार्य है।

काव्य में अभिव्यंजना तत्व का स्थान

'अभिव्यंजना' शब्द के विभिन्न अंगों का विश्लेषण करने से यही निष्कर्ष निकलता है कि अभिव्यंजना व्यक्तिकरण की चैतन्य प्रक्रिया है। कवि की अनुभूतियों का विस्तार और संप्रेषण केवल मानसिक और अमूर्त स्तर पर नहीं हो सकता, रूपात्मक स्थिति की प्राप्ति उसके लिए अनिवार्य होती है। कवि की अनुभूतियाँ, गृहीत सत्य की यथावत रक्षा करते हुए जो रूप ग्रहण करती हैं उसी के माध्यम से सहृदय उसका रसास्वादन करते हैं। कृति के रूपात्मक आधार पर ही कलाकार, कृति और सहृदय में गत्यात्मक सम्बंधों की स्थापना होती है। ग्रंथिल, जटिल, संश्लिष्ट सत्यानुभूति का संगठन और उसकी यथावत अभिव्यक्ति सरल कार्य नहीं है। हर्बर्ट रीड के शब्दों में काव्य-प्रक्रिया को दो विभागों के अन्तर्गत रखा जा सकता है। पहला संवेदनात्मक अनुभूति के चरम क्षणों में 'सत्य' की अखंडता की रक्षा, द्वितीय उस अखंड सत्य की शब्दों द्वारा अभिव्यंजना। प्रथम सोपान कृति के रूपात्मक अस्तित्व प्राप्त करने से पूर्व की अवस्था है। भौतिक, सामाजिक और प्राकृतिक परिवेश से गृहीत वस्तु-तत्व के द्वारा कवि की संवेदना और कल्पना उसकी प्रतिकृति का निर्माण करती है। इस स्थिति में कल्पना का महत्व केवल अमूर्त स्तर पर ही होता है। इन अन्त:क्रियाओं का अस्तित्व इतना सत्य है कि क्रोचे जैसे चिन्तक ने प्रक्रिया की इसी स्थिति को सम्पूर्ण सृजन-प्रक्रिया मान लिया है। क्रोचे की मान्यताओं का विस्तृत विश्लेषण आगे के पृष्ठों में किया जायेगा। कल्पना-प्रधान कृति में सृजनात्मक कल्पना प्रस्तुत तथा अप्रस्तुत, मूर्त तथा अमूर्त के समीकरण की प्रक्रिया होती है। प्रक्रिया के इस व्यक्तिपरक अंश में कलाकार के व्यक्तित्व का महत्वपूर्ण योग रहता है। कवि के जन्मजात संस्कार तथा परिवेश द्वारा निर्मित व्यक्तित्व उसकी कृतियों के निर्माण में महत्वपूर्ण स्थान रखते हैं। इस व्यक्तिपरक स्थिति में भी सृजन-प्रक्रिया कलाकार के चेतन तथा अवचेतन मन दोनों से सम्बंध रखती है।

प्रक्रिया की वस्तुपरक स्थिति में कवि अपनी मन:सृष्टि को भाषा के माध्यम से व्यक्त करता है। भाषा के प्रमुख उपकरण हैं शब्द। शब्द में अनेक विशिष्ठ शक्तियां अन्त:स्थ रहती हैं। ध्वनि, अनुभूति, गुण, अर्थ इत्यादि उसमें अन्तर्निहित रहते हैं। इस स्थिति में तकनीक का प्रमुख स्थान रहता है। अमूर्त भावानाओं को मूर्त रूप प्रदान करने तथा

अपने भावों के अनुरुप अभिव्यंजना का निर्माण करने की क्षमता कवि में होनी चाहिये। इस स्थिति में मस्तिष्क और लेखनी साथ-साथ चलते हैं, कल्पना और शिल्प सूत्रबद्ध होते हैं। यह कल्पना कवि के 'आत्म-दर्शन' को शब्दों के द्वारा रूपात्मक आधार प्रदान करती है। इस प्रकार काव्य-सृजन में तन्त्र अथवा विधा सम्बंधी तत्वों की उपेक्षा करना पूर्ण रूप से असम्भव है। विधा को साधारणत: काव्य का बाह्य अंग माना जाता है। विधा के समुचित प्रयोग के लिए कला-शिल्प सम्बंधी अभ्यास अनिवार्य होता है। कवि में शब्द-चयन, परिमाणित तथा परिमार्जित शब्दावली का ज्ञान तथा उनके उपयुक्त उपयोग की क्षमता, लोकोक्ति, मुहावरों, वर्णयोजना, उक्तिवैचित्र्य इत्यादि अभिव्यंजना के विभिन्न तत्वों के समुचित प्रयोग की क्षमता होना आवश्यक है। शिल्प-विधान की इस स्थिति में व्यक्तिपरक रूप में प्राप्त अमूर्त भावनाओं और प्रतिमूर्तियों के भी अनेक संशोधन और परिवर्तन होते हैं जिसके द्वारा कला का सौंदर्यगत मूल्य और भी बढ़ जाता है। ऐसी भी स्थिति आ जाती है जब इन उपादानों का प्रयोग साधनमात्र न रह कर साध्य का रूप धारण कर लेता है। साध्य-रूप में ग्रहण किये जाने पर उनका उद्देश्य चमत्कारवादी हो जाता है। अभिव्यंजना का आदर्श रूप वही होता है जहां वह सृजन में सहायक तत्वों के रूप में प्रयुक्त होती है। इन भौतिक उपादानों के माध्यम से व्यक्त हुए बिना अमूर्त अनुभूतियों का अस्तित्व कुछ अर्थ नहीं रखता।

इस प्रकार निष्कर्ष यह है अभिव्यंजना की क्रिया जागरूक प्रयोगों की स्थिति है जिसके द्वारा कवि की अमूर्त भावनाएँ परिवर्तित, संशोधित और कुछ सीमा तक परिष्कृत हो कर मूर्त रूप धारण करती हैं। निम्नलिखित रूपरेखा से विषय-वस्तु तथा अभिव्यंजना में भेद की स्थापना पूर्ण रूप से स्पष्ट हो जायेगी -

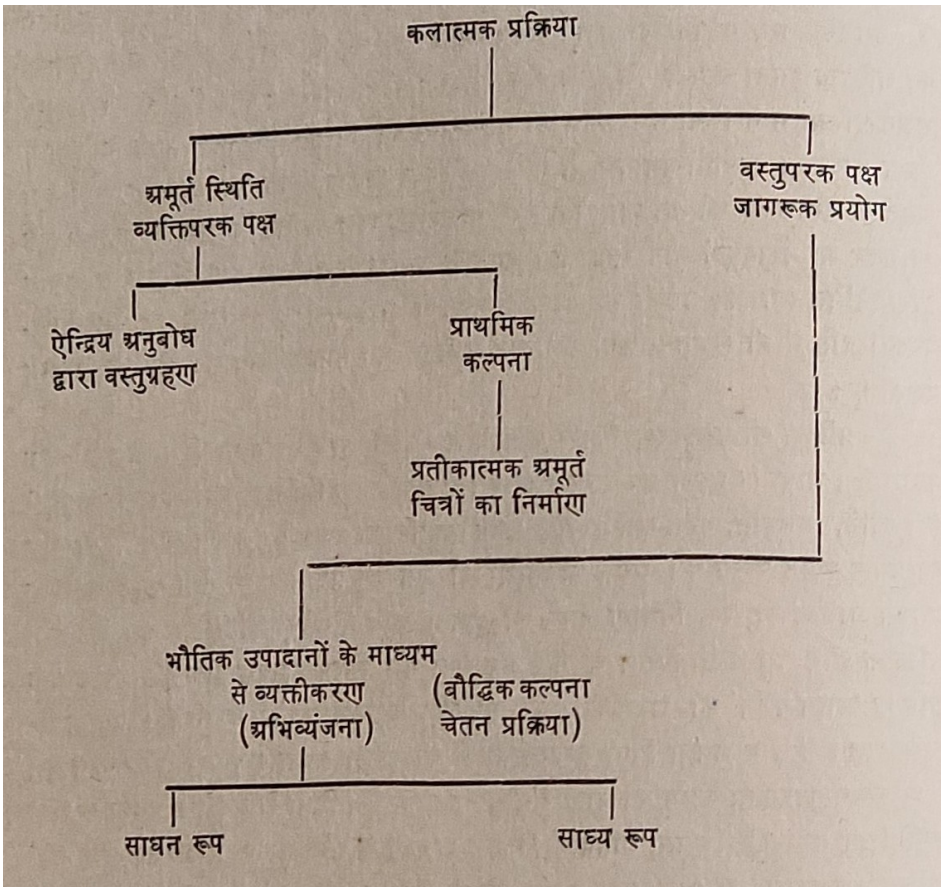

इस प्रकार सौंदर्य-शास्त्र के अन्तर्गत काव्य सम्बंधी अभिव्यंजना को बौद्धिक प्रक्रिया के रूप में ही ग्रहण किया गया है। भौतिक उपादानों के जिस संगठन द्वारा कवि अथवा कलाकार अपने अभिप्रेत की अभिव्यक्ति करता है वही अभिव्यंजना है। इन उपादानो में अन्त:स्थ व्यंजक शक्तियों को संकलित तथा संगठित करके कवि अपनी भावनाओं को आबद्ध करता है। इस संगठन द्वारा आविर्भूत रूपात्मक विन्यास ही कलाकृति का आयाम है और यही अभिव्यंजना है। काव्य में विषय-वस्तु और उसके व्यंजक उपादानों का विन्यास इतना संश्लिष्ट होता है कि कुछ दार्शनिकों ने उसे पूर्ण रूप से अविभाज्य और अखंड सिद्ध किया है। इस क्षेत्र में सर्वप्रमुख नाम इटली के दार्शनिक बेनेदेत्तो क्रोचे का है।

काव्य भाज्य है अथवा अविभाज्य इस प्रश्न को ले कर हिंदी जगत में काफ़ी वाद-विवाद हुआ है और हिंदी के प्रमुख आलोचकों ने इस प्रश्न पर विचार किया है। काव्य में अभिव्यंजना पक्ष का स्वतंत्र और पृथक अस्तित्व होता है यह बात पूर्ण रूप से मान लेने के पूर्व क्रोचे के अभिव्यंजनावाद तथा उससे सम्बद्ध मतों का विवेचन समीचीन होगा।

क्रोचे का अभिव्यंजनावाद

क्रोचे के अनुसार साधारण अनुभूति और कलात्मक अनुभूति, अथवा आध्यात्मिक तथ्य और भौतिक तथ्य में एक तात्विक अंतर है। कला की प्रक्रिया आध्यात्मिक अथवा आत्म-दर्शन की प्रक्रिया है, यह आत्मदर्शन स्वयमेव अभिव्यक्त होता है। अभिव्यंजनात्मकता के अभाव में सहजानुभूति नहीं, केवल ऎनद्रीय अनुबोध मात्र होता है। सहजानुभूति अखंड होती है, उसको खंड-खंड नहीं किया जा सकता। अन्त:ज्ञान की इस स्थिति की अभिव्यक्ति के लिए विचार की अपेक्षा नहीं होती, वह सहजोपलब्ध होता है। क्रोचे के अनुसार यह उक्ति अविश्वासनीय इसलिए लगती है कि हम अभिव्यंजना शब्द को केवल वाणी के अर्थ में ग्रहण करते हैं, परन्तु चित्रकला, वास्तुशिल्प तथा अन्य ललित कलाओं में जहां अभिव्यंजना का माध्यम केवल वाणी नहीं है, इस तथ्य की अनुभूति पूर्ण रूप से की जा सकती है कि अभिव्यंजना को अनुभूति से पृथक् नहीं किया जा सकता। सहजानुभूति का आध्यात्मिक आलोक अवचेतन की अव्यक्त, अस्पष्ट स्थिति से चेतन मन की चिंतनाविष्ट स्थिति को प्राप्त करता है परन्तु उसका रूप उसके पहले ही पूर्ण रहता है। प्रातिभ ज्ञान अथवा सहजानुभूति और अभिव्यंजना एकात्म हैं। उनका आविर्भाव और तिरोहण एक साथ और एक समय में होता है, उनका परिच्छेदन अथवा विभाजन करना असम्भव है। सहजानुभूति की स्थिति में भावनायें स्वयं ही सुन्दर, मधुर और उपयुक्त सांचों में ढल जाती हैं और अपने आप व्यक्त हो जाती हैं। यह साधारण विश्वास है कि कला के प्रेरक तत्व तो प्रत्येक व्यक्ति के अवचेतन में अव्यक्त रूप में पड़े रहते हैं, कलाकार अथवा कवि कला-शिल्प की क्षमता के कारण उन्हें व्यक्त करने या मूर्त रूप देने में समर्थ होते हैं। क्रोचे के अनुसार यह धारणा भी भ्रमात्मक है। आत्म-चिंतन के एकाग्र क्षणों में भावनायें स्वत: रूप ग्रहण करती हैं। इसके स्पष्टिकरण के लिए क्रोचे ने दो कलाकारों के उदाहरण दिये हैं। प्रसिद्ध चित्रकार माइकेल एंजेलो ने कहा है कि चित्रकार तूलिका से नहीं मस्तिष्क से चित्र बनाता है। लेनोर्डो के शब्दों में "प्रतिभावान व्यक्तियों का मन बाह्य-चेष्टाओं के अभाव के समय में ही आविष्कार तथा सृजन में सबसे अधिक क्रियाशील होता है।"

कलाकार कलाकार इसलिये होता है कि साधारण मनुष्य जिस वस्तु के अंश मात्र आभास भर कर सकने में समर्थ होता है कलाकार उसकी पूर्णानुभूति करता है। साधारण व्यक्ति की अनुभूतियां संवेदना और ऎन्द्रीय अनुभूति तक ही सीमित रह जाती हैं, सृजन के क्षणों का आत्मदर्शन उनमें नहीं आने पाता। कलाकार अपनी शक्ति द्वारा सहजानुभूति की इस स्थिति को प्राप्त करता है। सहजानुभूति का रूप व्यंजक होता है अतएव बौद्धिक व्यापार से इसका स्वतंत्र और स्वाधीन अस्तित्व रहता है। यह स्थिति रूपबद्ध स्थिति है। इस प्रकार प्रतिकृति की सीमा में आबद्ध अनुभूति ही अभिव्यंजना है और दोनों अविभाज्य हैं।

अभिव्यंजनावाद की परिसीमाएँ

क्रोचे द्वारा स्थापित आत्मदर्शन की यह आध्यात्मिक प्रक्रिया पूर्णता ग्राह्य नहीं हो सकती। उनके सिद्धातों में, भौतिक उपादानों में निहित क्रियात्मक शक्ति की पूर्ण उपेक्षा की गई है। इसके अतिरिक्त जिन मनोवैज्ञानिक और सामाजिक संदर्भों में मन:सृष्टि का निर्माण होता है उसकी भी क्रोचे ने पूर्ण उपेक्षा की है। चित्रकार की तूलिका, वास्तुशिल्पी की टांकी, कवि की भाषा किसी आध्यात्मिक अथवा नैसर्गिक शक्ति से प्रेरणा प्राप्त कर अनायास ही व्यक्त नहीं हो जाती। यह पूर्णता कलाकृति में तभी आती है जब कि विषय-वस्तु को व्यक्त करने के लिए सयत्न प्रयास किया जाता है। अभिव्यक्ति-क्रिया की इस स्थिति में अनेक नये तथा सूक्ष्म तथ्य तो प्रकट होते ही हैं, प्राय: अनेक नयी अनुप्रेरणाएँ भी प्राप्त होती हैं। विविध अनुशोधनों तथा संशोधनों के द्वारा कलाकृति का रूप 'अनुभूत रूप' की अपेक्षा कहीं अधिक परिमार्जित, परीष्कृत और सुंदर हो जाता है। वास्तव में अखंड सौंदर्यानुभूति की यह स्थिति भौतिक उपादानों के सम्पर्क द्वारा ही प्राप्त होती है।

हिंदी आचार्यों की दृष्टि में अभिव्यंजनावाद

आचार्य शुक्ल ने अभिव्यंजनावाद में प्रतिपादित काव्य-प्रक्रिया तथा अभिव्यंजना और विषय-वस्तु के एकात्मय, दोनों हीं दृष्टिकोणों का पूर्ण खंडन किया है। इस प्रसंग में शुकल् जी के विचारों को उद्धृत करना आवश्यक है। क्रोचे द्वारा प्रतिपादित काव्य-प्रक्रिया के सम्बंध में शुक्ल जी के तीन मुख्य आक्षेप हैं:

(१) "क्रोचे ने कल्पना-पक्ष को प्रधानता दे कर उसका रूप ज्ञानात्मक कहा है। हमारे यहां रस-सिद्धांत के अनुसार उसका मूल रूप भावात्मक या अनुभूत्यात्मक है। कल्पना में उठे हुए रूपों की प्रतीति (perception) मात्र को ज्ञान कहना उसे ऊँचे दर्जे पर पहुंचाना है।"

(२) "मूर्त भावना अथवा कल्पना आत्मा की अपनी क्रिया नहीं है। जिसे क्रोचे आत्मा के कारखाने से निकले हुए रूप कहते हैं वे वास्तव में बाह्य जगत से प्राप्त किये हुए रूप हैं। इंद्रियज ज्ञान के जो संस्कार मन में संचित रहते हैं वे ही कभी बुद्धि के धक्के से, कभी भाव के धक्के से यों ही, भिन्न-भिन्न ढ़ंग से अन्वित हो कर जागा करते हैं। यही मूर्त भावना या कल्पना है। इस अन्वित रूप-समूह को आध्यात्मिक सांचा कहना और पृथक-पृथक रूपों को उस सांचे में भरा जाने वाला मसाला बताना वितंडतावाद के अतिरिक्त और क्या कहा जा सकता है?"

(३) "अभिव्यंजनावाद बेल-बूटियों और नक्काशियों के सम्बंध में तो बिल्कुल ठीक घटता है, पर काव्य की सच्ची मार्मिक भूमि से यह बहुत दूर रहता है। यदि काव्य की तह में जीवन का कोई सच्चा मार्मिक तथ्य, सच्ची भावानुभूति नहीं, तो उसका मूल्य मनोरंजन करने वाली सजावट या खेल-तमाशे के मूल्य से कुछ भी अधिक नहीं। अभिव्यंजनावाद के प्रतिपादक ने उसका मूल्य दूसरी दुनिया में ढूंढ़ निकालने की चेष्टा की है।"

काव्य-प्रक्रिया सम्बंधी इन तीनों आक्षेपों को एक-एक करके देखना आवश्यक है।

रूप-प्रतीति को ज्ञान बताने का प्रमुख कारण यह है की पाश्चात्य सौंदर्य-शास्त्र में अनुभूति की अपेक्षा कल्पना-तत्व को काव्य की प्रक्रिया में अधिक महत्वपूर्ण स्थान दिया गया है। रूप-प्रतीति की यह स्थिति साधारण संवेदना की स्थिति नहीं है, यह तो मानना ही पड़ेगा। आचार्य शुक्ल ने यहां 'ज्ञान' शब्द का अर्थ पूर्णतया रूढ़ रूप में ग्रहण किया है। रूप-प्रतीति की स्थिति को ज्ञान मानते हुए भी क्रोचे ने उसे मस्तिष्क की अपेक्षा हृदय से अधिक सम्बद्ध माना है। रूप-प्रतीति की जिस प्रक्रिया का उसने उल्लेख किया है, उसमें हृदय का योग मस्तिष्क की अपेक्षा कहीं अधिक है। इस प्रसंग में ज्ञानात्मकता का अर्थ केवल रूप-व्यंजकता से है, ज्ञान के आलौकिक तत्व का उसमें समावेश नहीं है। ज्ञान से तात्पर्य पूर्ण रूपात्मक स्थिति की अनुभूति से ही है। क्रोचे द्वारा मान्य काव्य-सृजन की प्रक्रिया पर किंचित ध्यान देने पर यह भी स्पष्ट हो जाता है कि क्रोचे की रूप-प्रतीति न तो साधारण ऎन्द्रीय संवेदन है और न ही उसका प्रयोग ज्ञान के उस रूढ़ अर्थ में किया गया है जिसके द्वारा आध्यात्म-साधक योगी को परम-ज्योति के दर्शन होते हैं। ऎसी स्थिति में आचार्य शुक्ल का यह तर्क बिल्कुल दुर्बल पड़ जाता है।

क्रोचे ने संवेदना तथा सहजानुभूति में स्पष्ट भेद माना है। काव्यानुभूति की स्थिति सहजानुभूति की स्थिति है, ऎन्द्रीय संवेदनमात्र की नहीं। क्रोचे के अनुसार सहजानुभूति की प्रक्रिया प्रज्ञानात्मक (cognitive) है, ऎन्द्रीय संवेदन की नहीं। साधारण अर्थ में संवेदनशीलता और कलाकार की अखंड संवेदना में स्पष्ट अंतर है। प्रज्ञानात्मक स्थिति में संवेदना का रूप व्यंजक है। हम सहजानुभूति की अखंडता को मानें या न मानें, यह प्रश्न दूसरा है परन्तु सृजन प्रक्रिया को जो विश्लेषण क्रोचे ने किया है उसे साधारण संवेदना मान कर ही नहीं छोड़ा जा सकता और न उसे ज्ञान के रूढ़ अर्थ में लिया जा सकता है। कल्पना-तत्व के प्राधान्य के कारण शुक्ल जी ने 'सहजानुभूति' का रूप मूलत: ज्ञानात्मक मान लिया है। उनके विवेचन-विश्लेषण से ऎसा जान पड़ता है कि क्रोचे ने काव्य के मूल तत्व अनुभूति अथवा भाव की उपेक्षा की है, परन्तु बात ऎसी नहीं है। यद्यपि काव्य-प्रक्रिया को आध्यात्मिक प्रक्रिया कहने का लोभ वह नहीं संवरण कर पाये हैं परन्तु उन्होंने भौतिक उपादानों का पूर्ण रूप से निषेध नहीं किया है। उनमें अन्तर्निहित भावात्मकता की स्वीकृति ही इस बात का प्रमाण बनाने के लिए यथेष्ट है।

एक प्रश्न और उठता है कि क्या मानव-मन की ईहात्मक तथा अनुभूत्यात्मक स्थितियां एक-दूसरे की पूर्णतया विरोधी हैं? कला-प्रक्रिया में संश्लिष्ट विन्यास में क्या एक की अवस्थिति दूसरी के निषेध से ही सम्भव हो सकती है? सहजानुभूतिमूलक ज्ञान दूसरे शब्दों में अनुभूतिमूलक ज्ञान ही है क्योंकि उसके मूल में अखंड संवेदना की अवस्थिति

है। डॉ. नगेन्द्र ने भी एक स्थल पर दोनों का प्रयोग साथ-साथ किया है। श्री लक्ष्मीनारायण सुधांशु को भी सहानुभूति को अनुभूतिवाद से सम्बद्ध करने में विशेष आपत्ति नहीं है।

'आत्मा के कारखाने' की बात भी इतनी हास्यस्पद नहीं है जितनी कि शक्ल जी ने बना दी है। कल्पना अथवा मूर्त भावना आत्मा की अपनी क्रिया है। इसे शुक्ल जी दार्शनिकता का मजहबी पुट मानते हैं जिसका प्रयोग आवश्यकता पड़ने पर अव्यक्त और अनिर्वचनीय का सहारा लेने मात्र के लिए किया गया है। मेरे विचार से आचार्य शुक्ल ने यहां भी क्रोचे के साथ न्याय नहीं किया है। आत्मा के खजाने से निकले हुए सांचों में 'द्रव्य' को मसाले के रूप में भरने की स्थिति तो तब कल्पनीय थी जब क्रोचे ने 'आकृति' और 'वस्तु' की स्थिति पृथक्-पृथक् मानी होती। उसके अनुसार तो सहजानुभूति कृतिबद्ध (रूपबद्ध) ज्ञान है। मेरे विचार में आचार्य शुक्ल ने क्रोचे के सिद्धांतों को नगण्य सिद्ध करने के लिये प्रक्रिया का विश्लेषण ही उलटे रूप में किया है। उनके द्वारा किया गया आध्यात्मिक क्रिया का अर्थ काव्यानुभूति की सूक्ष्म मानसिक क्रिया के ज्ञानमूलक आध्यात्म-दर्शन के अधिक निकट आता है। उनके विवेचन के अनुसार क्रोचे के सिद्धांतों के अनुसार काव्य-प्रक्रिया इस रूप में होगी। कवि अथवा कलाकार ध्यानावस्थित हो कर चिन्तन करता है। अलौकिक दृश्यों के रूप में आकृतियां उसके सामने साकार होने लगती हैं और तब बाह्य-जगत से 'मसाला' ग्रहण कर उन आकृतियों में डाल कर कलाकार अपनी कृति का निर्माण करता है। यदि क्रोचे के अनुसार काव्य-प्रक्रिया यही है तब तो वितंडावाद है अवश्य परन्तु उसके सिद्धांत इतने खोखले नहीं हैं। सहजानुभूति की प्रज्ञानात्मक स्थिति तथा उसकी आध्यात्मिकता दोनों ही सत्य हैं। क्रोचे काव्यानुभूति को स्वयं प्रकाश्य मानता है और बाह्य जगत् की भावात्मकता को स्वीकार करते हुये उनके अन्वित रूप-समूह द्वारा निर्मित पूर्ण चित्र को ही अभिव्यंजना। ऐसी भी स्थिति संभव है जब बाह्य जगत् के प्रति बोध-ज्ञान और संवेदना के अभाव में भी सहजानुभूति की सम्भावना हो सकती है। जहां काव्य अथवा कला का रूप पूर्णतया आत्मपरक होता है वहाँ अनुभूतियों की अभिव्यंजना होती है। ऐसी स्थिति में सहजानुभूति प्रत्यक्ष और स्थूल सत्य की न हो कर सत्य की संभावनाओं की होती है। दीवानी मीरा की दर्दभरी अनुभूतियां सहजानुभूति की इसी कोटि के अन्तर्गत आयेंगी। ये सांचे भी खोखले नहीं, अनुभूतिमूलक तथ्यों से भरे रहते हैं। 'सांचे' और 'वस्तु' का अस्तित्व अलग नहीं है कि सांचों में मसाले को भर कर उसकी प्रतिकृतियां बनायी जा सकें जैसे नन्हे बालक गिलासों और कटोरियों में मिट्टी और बालू भर कर अपनी सृष्टि पर आह्लादित होते हैं। 'आत्मा के कारखाने' में केवल शून्य सांचों का निर्माण नहीं होता प्रत्युत् वस्तु-जगत् के रूप रंग से संयोजित पूर्ण प्रतिकृतियों का निर्माण होता है। 'आध्यात्मिक क्रिया' का तात्पर्य स्थूलता से परे सूक्ष्म मानसिक स्तर से ही है जहां ईहा और अनुभूति के योग से प्रज्ञानात्मक सहजानुभूति के वे चरम क्षण आते हैं जिनमें कवि का अस्तित्व भौतिक स्थूलताओं का अतिक्रमण कर एक नैसर्गिक आनन्द से अभिभूत हो उठता है। मेरे विचार में सहजानुभूति की यह स्थिति उस मुक्तावस्था से बहुत भिन्न नहीं है जिसका प्रतिपादन शुक्ल जी ने किया है - "मैं इस दशा को हृदय की मुक्त दशा मानता हूँ - ऐसी मुक्त दशा जिसमें व्यक्तिबद्ध घेरे से छूट कर वह अपनी स्वच्छन्द भावात्मिका क्रिया में तत्पर रहता है। इस दशा को प्राप्त होने की प्रवृत्ति होना कोई आश्चर्य की बात नहीं, चाहे इस दशा को आप आनन्द कहिये या न कहिये। आनन्द कहियेगा तो उसके पहले 'अलौकिक' लगाना पड़ेगा। इस व्यक्तिबद्ध (स्थूल) घेरे से छूटना ही क्रोचे के अनुसार काव्य-प्रक्रिया का सूक्ष्म मानसिक स्तर है और स्वच्छन्द भावात्मिका क्रिया में भावानुभूति के साथ कल्पना का भी स्पष्ट आभास मिलता है। प्रज्ञान और अनुभूति के इस योग की अपार्थिवता सिद्ध करने के लिए उन्हें भी अलौकिक शब्द का प्रयोग करना पड़ा है। शुक्ल जी का 'अलौकिक आनन्द' और क्रोचे का 'आध्यात्मिक सहजानुभूति' मेरी धारणा में एक-दूसरे के बहुत निकट हैं। कला और साहित्य के शाश्वत उपादानों को समझ और पहचान कर भी क्रोचे ने उन पर दार्शनिकता का जो आवरण चढ़ाया है, वही इस भ्रम के लिए उत्तरदायी है।

(३) "बेलबूटे और नक्काशियों के सम्बंध में तो अभिव्यंजनावाद ठीक घटता है परन्तु काव्य की सच्ची मार्मिक भूमि से वह दूर रहता है", शुक्ल जी की यह उक्ति भी क्रोचे के सिद्धांतों को खंड रूप में ग्रहण करने के लिये आधृत है। बेलबूटे और नक्काशी की कला से तात्पर्य कला के शिल्प-विधान से ही हो सकता है। क्रोचे के अनुसार सहजानुभूति ही स्वयं प्रकाश्य है, रूपबद्ध है। जहां अनुभूति ही रूपमयी है वहां शिल्पविधान का महत्व क्या है? सहजोचित कला प्रधान है या भाव, यह विवादरहित तथ्य है। शिल्प-विधान चेतन मन की क्रिया है जिसे क्रोचे की काव्य-प्रक्रिया में बहुत ही गौण स्थान प्राप्त है। उन्होंने वाग्वैचित्र्य को अभिव्यंजनावाद की एक विषेशता माना है परन्तु जहां क्रोचे उक्ति को ही कला मानता है वहां उसका तात्पर्य विचित्र उक्ति से नहीं सहज उक्ति से ही अधिक है। क्रोचे ने रचना की सत्ता 'सहजानुभूति की पुनरुद्धबुद्धि के विभावक' तथा 'स्मृति के सहायक' आदि के रूप में ही स्वीकार की है। उसे केवल आनुषंगिक माना है, काव्य का अनिवार्य अंग नहीं।

डॉ. नगेन्द्र के अनुसार क्रोचे मूलत: आत्मवादी दार्शनिक हैं जिन्होंने अपने ढंग से आत्मा की अन्त:सत्ता की प्रतीष्ठा की है। उन्होंने क्रोचे द्वारा प्रतिपादित कला-सजृन की सम्पूर्ण प्रक्रिया के पांच चरणों का उल्लेख किया है। (१) अरूप संवेदन (२) अभिव्यंजना यानि अरूप संवेदनों की आन्तरिक समन्विति - सहजानुभूति (३) आनन्दानुभूति (सफल अभिव्यंजना के आनन्द की अनुभूति) (४) आंतरिक अभिव्यंजना अथवा सहज अनुभूति का शब्द-ध्वनि, रंग, रेखा आदि भौतिक तत्वों में मूर्तिकरण और (५) काव्य, चित्र, इत्यादि - कलाकृति का भौतिक मूर्त रूप। इन पांचों में मुख्य क्रिया दूसरी है। उनके अनुसार क्रोचे वैचित्र्यवादी तथा आलंकारिक नहीं हैं। "उसके प्रतिपाद्य का मूल आधार है उक्ति जिसमें वक्र और ऋजु, वक्रता और वार्ता का भेद नहीं है।" उनकी मान्यतायें इस दिशा में आचार्य शुक्ल की मान्यता से बिल्कुल भिन्न हैं। उनके विचार से क्रोचे के अनुसार वक्रोक्ति भी सहजोक्ति ही है क्योंकि अभीष्ट अर्थ की अभिव्यक्ति के लिये वही एकमात्र उक्ति हो सकती थी। आचार्य शुक्ल की भांती वह क्रोचे के सिद्धातों को बेल-बूटे और नक्काशी से सम्बद्ध कवि-व्यापार प्रधान नहीं मानते प्रत्युत उनकी दृष्टि में क्रोचे के अनुसार सहजानुभूति ही काव्य की आत्मा है। सहजानुभूति 'आध्यात्मिक सृजन' और 'आंतरिक क्रिया' है, ‘प्रातिभ अन्त:सफुरण' है। उसका वक्रता के साथ प्रत्यक्ष सम्बंध नहीं है। सहजानुभूति का अर्थ उन्होंने भी लगभग उसी रूप में लिया है जिस रूप में हर्बर्ट रीड ने, जिनके मत का उल्लेख पहले किया जा चुका है। सहजानुभूति अखंड है। वस्तु-तत्व और रूप आकार अथवा अलंकार्य की पृथक सत्ता उसमें नहीं है। (सहृदय द्वारा) कला की सहजानुभूति अविवेच्य है - अनिर्वचनीय है।

‘अभिव्यंजनावाद में बेल-बूटे और पच्चाकारी को प्रधान मान कर आचार्य शुक्ल ने उसे आचार्य कुन्तक के वक्रोक्तिवाद का विलायती उत्थान कहा था। क्रोचे की 'उक्ति' तथा कुन्तक की 'वक्रोक्ति' को एक रूप में ग्रहण करके उन्होंने अपना यह निष्कर्ष दिया था। उनके रसवादी दृष्टिकोण में क्रोचे की कला सम्बंधी स्थापनायें वितंडवाद के अतिरिक्त कुछ न थीं परन्तु रसवादी परम्परा के प्रमुख आलोचक डॉ. नगेन्द्र ने अभिव्यंजनावाद की आत्मा सहजानुभूति को 'प्रतिपादित' रूप में स्वीकार करते हुये क्रोचे के सिद्धांत के उस दुर्बल स्थल को स्पर्श कर लिया है जिसका 'समाधान क्रान्तदर्शी आचार्य कुन्तक ने एक सहस्र वर्ष पूर्व ही प्रस्तुत कर दिया था।" कुन्तक के साथ क्रोचे के विचारों में उन्होंने साम्य की स्थापना शुक्ल जी की भांति वैचित्र्यवाद के आधार पर नहीं की, प्रत्युत तत्वदर्शी क्रोचे के सिद्धातों के अमूर्त स्थलों का पूरक मान कर की है। व्यवहारिक दृष्टि से क्रोचे के सिद्धांत अपूर्ण हैं। कुन्तक के मनतव्य में सहजानुभूति अखंड है। परन्तु फ़िर भी काव्य-सौंदर्य को हृदयंगम करने के लिए व्यवहार रूप में विषय-वस्तु और अभिव्यंजना के पृथक अस्तित्व को स्वीकार करना अनिवार्य है।

निष्कर्ष यह है कि जहां तक विषय-वस्तु और अभिव्यंजना के तादात्मय का प्रश्न है, क्रोचे के विचारों को स्वीकार नहीं किया जा सकता। काव्य की आलोचना तथा उसके विश्लेषण के लिये अभिव्यंजना के तत्वों का पृथक् अस्तित्व स्वीकार करना अनिवार्य है। प्रस्तुत प्रबंध में यही दृष्टिकोण स्वीकार करके कृष्ण भक्ति-काव्य के अभिव्यंजना-शिल्प का विवेचन किया गया है। अभिव्यंजना के जिन तत्वों के आधार पर यह विवेचन प्रस्तुत किया गया है उनका उल्लेख इस प्रकार है -

(१) भाषा - (अ) शब्द-समूह, (आ) मुहावरे और लोकोक्तियां, (इ) वर्ण योजना, शब्दालंकार, गुण, रीति, वृत्ति, तथा शब्द-शक्तियां।

(२) उपलक्षित चित्रयोजना (Indirect imagery)

(३) लक्षित चित्रयोजना (direct imagery)

(४) संगीत और छंद

(५) काव्यरूप

इन सब तत्वों का परिचयात्मक विश्लेषण उनसे सम्बद्ध अध्यायों की भूमिकाओं में किया जायेगा।

सूरदास से पूर्व कृष्ण-भक्ति काव्य में अभिव्यंजना-शिल्प की स्थिति - एक विहंगावलोकन

डॉ. शिवप्रसाद सिंह के शोध के फलस्वरूप अभी हाल में ही सूरदास के समय से पहले का ब्रजभाषा काव्य प्रकाश में आया है। 'सूर-पूर्व ब्रजभाषा और उसका साहित्य' नामक उनके शोध-प्रबंध में उपलब्ध साहित्य के व्यख्यान के साथ ही कुछ अनुपलब्ध साहित्य भी प्रकाश में लाया गया है और सूरदास से पहले ब्रजभाषा कवियों के अस्तित्व को सिद्ध करने का प्रयास किया गया है। नामदेव, कबीर और रैदास की अनुभूतिपरक रचनाओं को लेखक ने कृष्ण-भक्ति काव्य के विकास का एक सोपान माना है। इस निर्णय को स्वीकार करने के पक्ष और विपक्ष दोनों ही ओर से अनेक तर्क दिये जा सकते हैं। परन्तु यह प्रश्न यहां पर अप्रासंगिक है।

संतमत के कवियों के अतिरिक्त उन्होंने कृष्ण-भक्ति काव्य के विकास में संगीतकार कवियों का महत्वपूर्ण योग स्वीकार किया है। उनके शब्दों में, "संगीतज्ञ कवियों ने न केवल अपनी स्वर-साधना से भाषा को परिष्कार और मधुर अभिव्यंजना प्रदान की, तथा अप्रतिम नाद-सौंदर्य से कविता को अधिक दीर्घयुगी बनाया परन्तु अपनी सम्पूर्ण संगीत-प्रतिभा को आराध्य कृष्ण के चरणों पर लुटा भी दिया। गोपाल नायक और बैजू बावरा के पदों में आत्मनिवेदन, गोपी-प्रेम और भक्ति के विविध पक्षों का बड़ा ही विशद और मार्मिक चित्रण हुआ है। गोपाल नायक के एक पद में रास का चित्रण इस प्रकार मिलता है -

> कांधे कामरी गो आलाप के नाचे जमुना तीर, नाचे जमुना तीर
> पीछे रे पांवरे लेती नाचि लोई मांगवा --
> भुव आलि मृदंग बांसुरी बजावै गोपाल वैन वतरस ले आनन्द। (राग कल्पद्रुम)

बैजू बावरा का उल्लेख भी इस प्रसंग में किया गया है तथा राग कल्पद्रुम में संकलित उनके पदों के आधार पर उन्हें ब्रजभाषा का कवि सिद्ध किया गया है। राग कल्पद्रुम की यह रचनायें शुद्ध ब्रजभाषा में हैं -

> आंगन भीर भई ब्रजपति के आज नन्द महोत्सव आनन्द भयो।
> हरद दूब दधि अक्षत रोरी ले छिरकत परस्पर गावत मंगलचार नयो।
> ब्रह्मा ईस नारद सुर नर मुनि हरषित विमानन पुष्प बरस रंग ठयो।
> धन धन बैजू संतन हित प्रकट नन्द जसोदा ये सुख जो दयो। (राग कल्पद्रुम)

इन दोनों ही कवियों की रचनाओं में निहित संगीत तत्व परवर्ती कृष्ण-भक्त कवियों की संगीत-साधना की पृष्ठभूमि से जान पड़ते हैं, परन्तु जहां तक अभिव्यंजना शैली का प्रश्न है यह रचनायें परवर्ती रचनओं के सामने पासंग भर भी नहीं ठहरतीं।

इन रचनाओं के अतिरिक्त शोधकर्ता ने निम्नलिखित अप्रकाशित पुस्तकों का परिचय-परीक्षण भी प्रस्तुत किया है -

कृष्ण-भक्ति काव्य ग्रंथ	लेखक	रचना काल
१. प्रद्युमनचरित	अग्रवाल कवि	लेखक ने इनके रचनाकाल का उल्लेख नहीं किया है
२. महाभारत कथा	विष्णुदास	
३. स्वर्गारोहड़		
४. रुक्मिणी मंगल		
५. स्वर्गारोहड़ पर्व		
६. स्नेह लीला		
७. गीता भाषा	थेघ नाथ	

कृष्णभक्ति सम्बंधी अप्रकाशित ग्रंथों को लेखक ने जिस रूप में हमारे सामने रखा है, उसे उसी रूप में स्वीकार कर लेने के अतिरिक्त और कोई चारा नहीं है। उनके मतों को उद्धृत करके विषय-विस्तार करने से कुछ लाभ नहीं होगा। जो कुछ भी सामग्री प्रकाश में आयी है उसके अध्ययन द्वारा ये निष्कर्ष निकाले जा सकते हैं -

तत्कालीन ब्रजभाषा के दो रूप थे (१) अपभ्रंश मिश्रित ब्रजभाषा (२) तद्भव प्रधान ब्रजभाषा। संस्कृति के तत्सम शब्दों के प्रयोग द्वारा तत्कालीन ब्रजभाषा का रूप परिनिष्ठित नहीं हो पाया था। प्रथम कोटि की भाषा के उदाहरण के रूप में डूंगर कवि की एक रचना उद्धृत की जा रही है -

ऋतु बसंत उलहणी विविह वणराय फलह सहू।
कंटक विकट करीर पंत पिकखंत किंपि नहु।
धाराहर वर धवल बारि वरसंत घनघोर वन।
कुरलतंउ मूल मंत्री सर्प नहीम मानहिं दुर्जन।
* * *
औषधि मूल मंत्री सर्प नहिं मानहिं दुर्जन।
सर्प डसी वेदना एही दिट्ठइ हुई, गुंजन।
लागइ दोष अनन्त कियइ संसर्ग एनि परि।
तवडी जल हरइ घड़ी पीटियइ सुफल्लरि।

द्वितीय कोटि के उदाहरण के रूप में विष्णुदास रचित 'सनेह लीला' की ये पंक्तियां ली जा सकती हैं -

महलन मोहन करत विलास।
कहां मोहन कहां रमन रानी और कोऊ नहिं पास।
रुकमन चरन सिरावत पिय के पूजी मन की आस।
जो चाहे थी सो अब पायो हरि पति देवकी सास।
तुम बिन और कौन थो मेरौ धरति पताल आकास।
पल सुमिरन करत तिहारौ ससि पूस परगास।

इन कवियों की रचनाओं में प्रबुद्ध कला-चेतना का पूर्ण अभाव है। अभिव्यंजना-शैली की दृष्टि से ये अत्यंत साधारण कोटि की रचनायें हैं। उनकी शैली अधिकतर वर्णनात्मक और विवरणात्मक है। अप्रस्तुत योजना, लक्षित चित्र-योजना, वाग्वैदग्घय आदि तत्व बहुत ही कम हैं।

विषय-वस्तु के क्षेत्र में कुछ ऎसे तत्व अवश्य मिलते हैं जिन्हें परवर्ती कृष्ण-भक्ति काव्य का पूर्वाभास कहा जा सकता है। यह प्रभाव मुख्य रूप से दो क्षेत्रों में दिखाई पड़ता है: (१) लोक संस्कृति के चित्रण में (२) शास्त्रीय संगीत के समावेश में।

गोस्वामी विष्णुदास रचित रुक्मणि मंगल की ये पंक्तियां प्रथम वर्ग के उदाहरण के रूप में ली जा सकती हैं:

मोतियन चौक पुराय के कियौ आरती माय।
अति आनन्द भयौ है नगर में घर घर मंगल साजै।
मनमोहन प्रभु ब्याह कर आये पुरी द्वारका राजै।
अंगन तन में भूषन पहिने सब मिलि करत समाज।
बाजै बाजन कानन सुनियत, नौबत घन ज्यूं बाज।
नर नारिन मिलि देत बधाई सुख उपजै दुखभाज।
नाचत गावत मृदंग बाजत रंग बसावत आज।।

दूसरे वर्ग की रचनाओं के अन्तर्गत गोपाल नायक और बैजू बावरा की रचनायें रखी जा सकती हैं। डॉ. सिंह ने इन रचनाओं को काव्य-कल्पद्रुम से संकलित किया है। संगीत कला के क्षेत्र में इस ग्रंथ का महत्वपूर्ण स्थान है परन्तु भाषा और साहित्य की दृष्टि से उसमें संकलित पदों को प्रमाणिक माना जा सकता है या नहीं यह प्रश्न विवादरहित नहीं है। यदि उन्हें प्रमाणिक मान लिया जाये तो गोपाल नायक और बैजू बावरा के पदों को परवर्ती कृष्ण-भक्त कवियों के ध्रुपद

शैली में रचित पदों का पूर्वरूप माना जा सकता है। शास्त्रीय संगीत के तत्वों का उल्लेख तथा ध्रुपद शैली के अनुकूल पद-योजना इन रचनाओं में प्राप्त होती है -

सप्त स्वर तीन ग्राम इकइस मूर्छन बाइस सुर्त
उनचास कोट ताल लाग डाट
गोपाल नायक हो सब लायक आहत अनाहत शब्द,
सो ध्यायो नाद ईश्वर बसे मो घाट

तथा

मार्ग देसी कर मूर्छना गुन उपजे मति सिद्ध गुरु साध चावै।
सो पंचम मघ दर पावै।

बैजू बावरा के पदों की योजना भी ध्रपुद शैली की श्वास-साधना के निमित्त की हुई जान पड़ती है:

बोलियो न डोलियो ले आऊं हूं प्यारी को,
सुन हौ सुघर वर अब हीं पै जाऊं हूं।
मानिनि मनाय के तिहारे पाय ल्याय के,
मधुर बुलाय के तो चरण गहाऊं हूं।
सुन री सुंदर नारि काहे करत एति रार,
मदन डारत पार चलत पल तुझाऊं हूं।
मेरी सीख मान कर मान न करो तुम,
हे जु प्रभु प्यारे सो बहियां गहाऊं हूं।

बधाई के लोक-गीत भी उनके नाम से प्राप्त होते हैं:

आंगन भीर भई ब्रजपति के आज नन्द महोत्वस आनन्द भयौ।
हरद दूब दघि अक्षत रोरी ले छिरकत परस्पर गावत मंगलचार नयो।
ब्रह्मा ईस नारद सुर नर मुनि हरषित विमानन पुष्प बरस रंग ठयो।
धन धन बैजू संतन हित प्रकट नन्द जसोदा ये सुख जो दयो।

अधिकतर कवियों ने दोहा, चोपाई और छप्पय का प्रयोग किया है। कुछ पदों के ऊपर गौरी, घनाश्री और पूर्वी रागों का उल्लेख भी हुआ है।

इस सामग्री के अध्ययन के उपरान्त सूरदास से पूर्व ब्रज-भाषा काव्य के अस्तित्व की स्वीकृति में आचार्य शुक्ल का अनुमान आंशिक रूप में ही सत्य माना जा सकता है। सूरदास के काव्य-सौष्ठव पर विचार करते हुए आचार्य शुक्ल ने कहा था, 'इन पदों के सम्बंध में सबसे पहली बात ध्यान देने की यह है कि चलती हुई ब्रजभाषा में सबसे पहली साहित्यिक रचना होने पर भी ये इतनी सुडोल और परिमार्जित है, यह रचना इतनी प्रगल्भ और काव्यांग-पूर्ण है कि आगे होने वाले कवियों की उक्तियां सूर की जूठी सी जान पड़ती हैं। अत: सूर-सागर किसी चली आती हुई गीति काव्य परम्परा का - चाहे वह मौखिक ही रही हो - पूर्ण विकास सा प्रतीत होता है।"

इन कृतियों के प्रकाश में आने पर भी कलाकार के रूप में सूर अपने पूर्व-स्थान पर ही शोभित हैं। इस काल के दर्जन कवियों में से एक भी ऎसा नहीं है जो अष्टछाप के अन्य कवियों के समकक्ष खड़ा रह सके, सूरदास तो दूर की बात है। जहां तक पूर्व-परम्परा की स्थापना का प्रश्न है यह तथ्य उसी रूप में स्वीकार किया जा सकता है जैसे हम यह कहें कि छायावादी कविता के बीज द्विवेदी-युग की रचनाओं में भी पाये जाते हैं।

सूर-पूर्व ब्रजभाषा काव्य में गीति-काव्य की मौखिक परम्परा भी स्थापित की जा सकती है, ब्रजभाषा का अस्तित्व भी माना जा सकता है पर उसमें कला-सौष्ठव का कोई ऎसा आधार नहीं मिलता जिसके कारण यह कहा जा सके कि सूरदास के पदों की प्रगल्भता और काव्यांगपूर्णता को कोई पूर्व आधार हिन्दी जगत् में विद्यमान था। कला के क्षेत्र में नये मार्गों का उद्घाटन सूरदास, नन्ददास और उनके समकालीन भक्तों ने ही किया। उनकी कला-चेतना का प्रादुर्भाव तत्कालीन परिस्थितियों के फलस्वरूप हुआ था। कला के पुनुर्त्थान युग में उनकी प्रतिभा प्रस्फुटित हो कर विकसित

हुई। उत्तराधिकार रूप में उन्हें जो परम्परा प्राप्त हुई थी वह पूर्ण अविकसित थी, भाव, भाषा, शैली, किसी भी दृष्टि से मध्यकालीन कृष्ण-भक्त कवियों पर उनका ऋण नहीं स्वीकार किया जा सकता।

कृष्ण-काव्य परम्परा के विकास का संक्षिप्त परिचय

कृष्ण-काव्य परम्परा के विकास का प्रमुख श्रेय आचार्य वल्लभ और उनके पुत्र विट्ठलदास जी को है। आचार्य वल्लभ द्वारा प्रवर्तित 'पुष्टि मार्ग' को आधार बना कर श्री विट्ठलदास द्वारा स्थापित अष्टछाप के कवियों ने हिन्दी में अमर कृष्ण-भक्ति-काव्य की रचना की। पुष्टि मार्ग की अनुभूति मूलक साधना के कारण इन कवियों ने कृष्ण के व्यक्तित्व के लीला-प्रधान अंशों को ही ग्रहण किया है। राजनीतिज्ञ कृष्ण उनके आलम्बन नहीं हैं। कृष्ण के व्यक्तित्व में उन्होंने शक्ति के साथ माधुर्य और प्रेम का समन्वय कर दिया। अलौकिक आलम्बन में सहज और मधुर मानव का आरोपण उन्होंने जिस मनोवैज्ञानिक कौशल से किया है उसमें सार्वभौम उपादानों का समावेश हुआ है।

ऎतिहासिक क्रम से अष्टछाप के कवियों का उल्लेख इस प्रकार है - कुभंनदास, सूरदास, परमानन्ददास, कृष्णदास, नन्ददास, चतुर्भुजदास, छीतस्वामी और गोविन्दस्वामी। सूरदास प्रधान रूप से वात्सल्य और श्रृंगार रस के कवि हैं, परमानन्द जी के काव्य में वात्सल्य का अनुपात महत्वपूर्ण है। अन्य कवियों की रचनाओं में श्रंगार रस का ही प्राधान्य है, उसमें वात्सल्य तो है ही नहीं या अत्यंत गौणरूप में प्रयुक्त है। इन सभी के प्रतिपाद्य में साहित्यकता, पार्थिव अनुभूतियों और आध्यात्मिकता का सुंदर सामन्जस्य मिलता है। विभिन्न कवियों के व्यक्तित्व के अनुसार तीनों तत्वों का अनुपात उनकी रचनाओं में भिन्न-भिन्न है। साहित्यिक महत्व की दृष्टि से सूरदास के बाद नन्ददास का नाम आता है। उनकी अभिव्यंजना में सचेष्ट कलाकार का शिल्प है।

पूर्वमध्यकाल के इन पुष्टिमार्गी कवियों के बाद परिमाण और गुण दोनों ही दृष्टियों से महत्वपूर्ण योग राधावल्लभ सम्प्रदाय के आचार्य हितहरिवंश तथा उनके शिष्यों और अनुयायियों ने दिया। राधावल्लभ सम्प्रदाय की उपासना पद्धति अन्य सम्प्रदायों से भिन्न थी। इस मत के सिद्धांतों के अनुसार राधा ही परम इष्ट हैं और कृष्ण की मान्यता इसीलिए है कि वह राधा के प्रियतम हैं। वे इष्ट नहीं हैं। भक्तजन राधा की सखी रूप में होते हैं। वे सखी रूप में उनके साथ परकीया गोपियों के समान स्वतंत्र रूप से सम्बंध स्थापित नहीं करते और न राधा के प्रति उनका सपत्नि भाव होता है। इस सम्प्रदाय में हितहरिवंश के अतिरिक्त ध्रुवदास की कला का महत्वपूर्ण स्थान है।

किसी विशिष्ठ सम्प्रदाय के बंधनों से मुक्त मतवाली मीरा और रसखान की रचनाओं का भी पूर्व-मध्यकालीन कृष्ण-भक्ति साहित्य में बड़ा महत्व है। मीराबाई द्वारा रचित कई ग्रंथों का उल्लेख प्राप्त होता है। नरसी का मायरा, गीत-गोविन्द की टीका, पद तथा गर्व गीत उनकी प्रमुख रचनायें मानी जाती हैं। उनका साहित्य और उसका स्वरूप दोनों ही संदिग्ध हैं। उनके काव्य में गिरधरगोपाल के प्रति उनकी आकुल भावनायें विर्बाध रूप से व्यक्त हुई हैं। जहां भावनायें उन्मुक्त हुईं, आकांक्षायें उच्छृंखल हो कर असंयत हो जाती हैं पर मीरा के काव्य की सबसे बड़ी सफलता यही है कि भावनाओं की निर्बाधता में असंयत और अनियंत्रित श्रृंगार की स्थूलताओं का समावेश नहीं होने पाया है। उनकी कला का एक अपूर्व ही सौंदर्य है जो कला सम्बंधी परिपक्वताओं से वंचित रहने पर भी पूर्ण है।

मुसलमान कृष्ण-भक्त कवि रसखान का नाम इस परम्परा में अमर है। उनके व्यक्तित्व में प्रधान प्रेम-तत्व ने लौकिक आलम्बन के अस्थायित्व के कारण अलौकिक कृष्ण का सहारा लिया और उनकी भावनायें भक्त हृदय के सुंदर उद्गारों के रूप में व्यक्त हो उठीं। भावानाओ की तीव्रता और उत्कटता के साथ ही साथ उनके काव्य का कलापक्ष भी प्रौढ़ और सबल है। 'प्रेम वाटिका' और 'सुजान रस सागर' उनके दो छोटे-छोटे ग्रंथ प्रकाशित हुए हैं।

उत्तर-मध्य काल में भी कृष्ण-काव्य परम्परा विभिन्न सम्प्रदायों के संरक्षण में पल्लवित और पुष्पित होती रही। पूर्व-मध्य काल (भक्तिकाल) में कृष्ण-भक्ति-पद्धति में नैसर्गिक आलम्बन के प्रति मानवीय भावनाओं का जो उन्नयन हुआ उसमें राग और साधना का अपूर्व सामंजस्य था। इस परम्परा में रागतत्व के प्राधान्य के कारण ही १९वीं शती तक भक्ति-युग की परिष्कृत माधुर्य भावना लौकिकता में रंजित होने लगी। उत्तर-मध्य कालीन कृष्ण-काव्य परम्परा में आलम्बन और साधना दोनों पक्षों में अपार्थिव अंश केवल नाम-मात्र को ही शेष रह गया।

रीतिकालीन कृष्ण-भक्ति काव्य में श्रृंगारिक तत्वों का इतना प्राधान्य हो गया कि उसके फलस्वरूप ब्रह्मा की असीमता भी मानवीय क्रिया-कलापों में लिपट कर रह गई। साहित्य की रूढ़ परम्पराओं के अनुसार 'ब्रह्मा की प्रेमिकाओं' पर भी नायिका-भेद के विविध रूपों का आरोपण किया गया। हिन्दी काव्य जगत् में सतरहवीं शताब्दी के उपरान्त कृष्ण और गोपिकाओं के नाम पर श्रृंगारपरक ऐहिक भावनाओं की अभिव्यक्ति प्रधान हो उठी।

उत्तर-मध्य काल में वल्लभ सम्प्रदाय का कोई उल्लेखनीय कवि नहीं हुआ। केवल ब्रजवासीदास ने सूरसागर के आधार पर अपने ग्रंथ 'ब्रजविलास' की रचना की। राधावल्लभ सम्प्रदाय के हित वृंदावनदास ने 'लाड़ सागर' और 'ब्रज प्रेमानन्द सागर' ग्रंथों की रचना की। इसके अतिरिक्त निम्बार्क सम्प्रदाय के घनानन्द, नागरीदास, हठी जी, भगवत रसिक जी, रूप रसिक जी, सहचरिशरण ने कृष्ण-भक्ति सम्बन्धी रचनायें लिखीं, जिनमें उस युग की काव्य-चेतना की स्मस्त विशेषताओं का समावेश हो गया है।

प्रतिपाद्य के प्रति उनके दृष्टिकोण और उनकी अभिव्यंजना-कला का विवेचन आगामी अध्यायों में किया जायेगा।

आधुनिक काल नये संदेशों और नये जीवन-दर्शन से युक्त सामने आया। मध्यकालीन सामन्तीय व्यवस्था बीत चुकी थी। बौद्धिक जागरण और विज्ञान के इस युग में धार्मिकता और विशेषकर उपास्य के प्रति रागात्मक वृत्ति के उन्नयन को अंध-विश्वास और रूढ़िवादिता का नाम दिया गया। उत्तर-मध्य काल में कृष्ण-भक्ति में निहित श्रृंगार तत्व ने लौकिक श्रृंगार का रूप धारण कर लिया था, आधुनिक काल में केवल उसका अंधकार पक्ष ही अवशिष्ट रह गया। भक्ति के नाम पर भ्रष्टाचार, अंधविश्वास और पाखंड ने तत्कालीन सुधारवादी और बौद्धिक प्रवृत्तियों को अपने विरुद्ध आवाज़ उठाने की चुनौती दी। सूक्ष्म रागात्मक प्रवृत्तियों का आश्रित भक्ति बौद्धिक और ऐहिक जीवन-दर्शन के भार के नीचे दब गई। उसकी विकृति ही शेष रह गई।

मध्यकाल में भक्ति ने एक आंदोलन का रूप ग्रहण किया था। वह जनता के व्यक्तिगत और समष्टिगत संघर्षों और समस्याओं का समाधान प्रस्तुत करने आई थी। आधुनिक काल में उसका क्षेत्र 'व्यक्ति' की सीमा में ही संकीर्ण हो गया। परिवार के संसर्ग और वैयक्तिक संस्कार इत्यादि कारणों से 'धर्म' तत्व एक संकीर्ण दायरे में ही शेष रह गया। भारतेन्दु हरीशचन्द्र, जगन्नाथदास रत्नाकर, सत्यनारायण कविरत्न इत्यादि कवियों ने कृष्ण-भक्ति काव्य की रचना की जिसकी प्रेरणा स्थूल रूप में तीन प्रकार की मानी सकती है - (१) परम्परा-पालक (२) कृष्ण-चरित के गान द्वारा प्राचीन गौरव की स्थापना तथा (३) वैयक्तिक संस्कारजन्य आस्था। वल्लभाचार्य के शिष्यों द्वारा प्रवर्तित कृष्ण-काव्य परम्परा उत्थान और पतन के विविध सोपानों पर चढ़ती-गिरती आधुनिक काल तक चली आई। वल्लभ सम्प्रदाय के ही निष्ठावान भक्त भारतेन्दु हरीशचन्द्र ने उनमें पुन: माधुर्य-भक्ति की परिष्कृति और सूक्ष्मता के समावेश का प्रयत्न किया, परन्तु अब इस प्रकार की भक्ति का समय बीत चुका था, देश के सामने यथार्थ नग्न मुँह बाये खड़ा था, पाश्चात्य देशों का बुद्धिवाद भारत की आध्यात्मिकता को चुनौती दे रहा था, जिसके सूक्ष्म तन्तु बाह्य स्थूलताओं के सामने हार मान चुके थे। साहित्य में व्यवहारिक भाषा के अभाव के फलस्वरूप ब्रजभाषा का स्थान खड़ी-बोली ले रही थी, ऐसी स्थिति में ब्रजनायक से सम्बद्ध काव्य-परम्परा और ब्रजभाषा दोनों के विकास का मार्ग अवरुद्ध हो गया।

प्रस्तुत प्रबन्ध में ब्रजभाषा-कृष्ण-भक्ति काव्य का विश्लेषण इन्हीं तीनों युगों के प्रमुख कवियों की रचनाओं के आधार पर किया गया है। उन कवियों और उनकी रचनाओं की तालिका इस प्रकार है:

१. पूर्वमध्यकाल

कवि	ग्रंथ
सूरदास	सूरसागर, ना.प्र.स., वेंकटेश्वर प्रेस, साहित्य लहरी
नन्ददास	नन्ददास ग्रंथावली, सं. ब्रजरत्नदास, नन्ददास ग्रंथावली, सं. उमाशंकर शुक्ल
परमानन्द दास	परमानन्द सागर, सं. गो. ल. शुक्ल
अष्टछाप के अन्य कवि	(१) कुम्भनदास, चतुर्भुजदास, छीतस्वामी, गोविन्दस्वामी

	के पद, विद्या विभाग काँकरौली द्वारा प्रकाशित (२) ड़ॉ. दीनदयालु गुप्त के संग्रहालय पद
प्रभुदयाल मित्तल (सम्पादक)	अष्टछाप परिचय
हितहरिवंश	हितचौरासी
ध्रुवदास	बयालीस लीला
मीराबाई	मीराबाई की पदावली - परशुराम चतुर्वेदी
रसखान	प्रेमवाटिका, सुजान रस सागर
नेहीनागरीदास	स्फुट पद

२. उत्तरमध्यकाल

चाचा वृंदावनदास	लाड़ सागर तथा स्फुट पद
रसिकदास	स्फुट पद
नागरीदास	नागर सामुच्चय
हठी जी	स्फुट रचनायें
भगवत रसिक जी	स्फुट रचनायें
सहचरिशरण	स्फुट पद
घनानन्द	घनानन्द कवित्त पं. विश्वनाथप्रसाद मिश्र
ब्रजवासीदास	ब्रज विलास
ब्रह्माचारी बिहारीचरण (सम्पादक)	निम्बार्क माधुरी (सम्पादित)

३. आधुनिक काल

भारतेन्दु हरीश्चन्द्र	भारतेन्दु ग्रंथावली ग्रंथ – कृष्ण पदावली, देवी छद्मलीला, हिंडोला, प्रेम-मलिका, मान-लीला, प्रेम-सरोवर, भक्त-सर्वस्व, प्रेमाश्रु-वर्षण, प्रेम-माधुरी, प्रेम-तरंग, मधु-मुकुल, इत्यादि
रत्नाकर	रत्नाकर भाग १ और २, ना. प्र. सभा

सत्यनारायण कविरत्न के 'भ्रमरदूत' की आत्मा भक्तिपरक नहीं है उसमें आधुनिकता के तत्व ही प्रधान हैं इसलिए उसका विवेचन प्रस्तुत निबंध में नहीं सम्मिलित किया गया है। श्री वियोगी हरि की भक्तिपरक रचनाओं का कलापक्ष गौण है इसलिये उन्हें भी छोड़ दिया गया है।